

समस्य

जुलाई-सितंबर, 2021 ♦ नई दिल्ली



संस्कृति

किसी देश की संस्कृति
वहां के लोगों के दिल
और आत्मा में
बसती है।

—महात्मा गांधी—



“ये हमारी असली अफ़ग़ान ड्रेस है. अफ़ग़ान महिलाएं इतने रंगीन और सलीकेदार कपड़े पहनती हैं. काले रंग का बुर्का कभी भी अफ़ग़ानिस्तान का पारंपरिक परिधान नहीं रहा है.”

वजीर्निया में एक मानवाधिकार कार्यकर्ता स्पोज़मे मसीद रिक्टर पर.

#AfghanistanCulture

नाहि तो जन्म नसाई

तालिबान ने अफ़ग़ानिस्तान में सत्ता पर एक बार फिर कब्जा कर लिया है और देश में धार्मिक तानाशाही लौट आई है। कोई भी पार्टी या ग्रुप अगर हिंसात्मक ढंग से सत्ता को हड़प ले तो उसकी सरकार को वैध नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि ये बात पूरी दुनिया मानती है कि सरकार के गठन के बारे में निर्णय जनता करती है, जो उसका मौलिक अधिकार है। कुछ वर्षों पहले अफ़ग़ानिस्तान में जनतांत्रिक प्रणाली की जो प्रक्रिया शुरू हुई थी उसकी बुनियादें चाहे कितनी कमजोर रही हों और उसमें कितनी ही कमियां क्यों न रही हों लेकिन ये एक सही दिशा में उठाया गया कदम था, जो दुर्भाग्य से कुछ शक्तियों के निजी स्वार्थ, उच्च स्तर पर व्याप्त भ्रष्टाचार, देश और समाज में जनतांत्रिक परंपराओं के अभाव और कुछ अन्य कारणों से पूरा नहीं हो सका। अफ़ग़ान जनता का एक बड़ा वर्ग भी इस बदलाव का विरोधी था, जिसका प्रतिनिधित्व तालिबान करते थे, जिन्होंने पहले दिन से ही ऐसी किसी जनतांत्रिक कोशिश को स्वीकार करने से इंकार कर दिया था।

आधुनिक काल में भी मध्य युग में रहने वाले तालिबान उसी मजहबी सोच में विश्वास रखते हैं जिस पर पाकिस्तान की जमाअत-ए-इस्लामी और मिस्र की इखवानुल मुस्लमून जैसी संस्थाएं अमल करती रही हैं। हालांकि राजनीतिक इस्लाम की इस सोच को भारत के मौलाना वहीहुदीन खान और पाकिस्तान के जावेद अहमद ग़ामिदी जैसे विख्यात इस्लामिक विद्वानों ने तर्कपूर्ण ढंग से खारिज कर दिया है। इस बहस के विस्तार में जाना हमारा विषय नहीं। मगर हम पूरे विश्वास के साथ कह सकते हैं कि यदि अफ़ग़ान जनता को स्वतंत्रता पूर्वक अपने भविष्य के बारे में निर्णय लेने का अवसर मिले तो वह भी वही मार्ग चुनेंगे, जो दूसरे जनतांत्रिक देशों की जनता करती है। मगर इसके लिए एक अनुकूल वातावरण का होना जरूरी है, जो अंतर्राष्ट्रीय समुदाय की जिम्मेदारी है। ये एक कठिन सफर है जिसमें बहुत-सी रुकावटें हैं, मगर इसका कोई और विकल्प नहीं जो देश में अमन और शांति को सुनिश्चित कर सके। बीस साल पहले तालिबान सरकार के पतन के बाद पूरे देश में हमें जो दृश्य नजर आए थे उसे कौन भूल सकता है और आज भी कौन इससे इंकार कर सकता है कि जनता जिसकी कई पीढ़ियां धार्मिक कट्टरवाद और तानाशाही की लपेट में आकर तबाह हो चुकी हैं, अपने बच्चों के लिए उज्ज्वल भविष्य का सपना नहीं देखती होंगी। अनुभव बहुत कुछ सिखा देता है। यूरोप का उदाहरण सामने है, जिसने पिछली शताब्दी में फासिस्टवाद का नंगा नाच और दो महायुद्धों का विनाश देखा है और यही कारण है कि युद्ध के विरुद्ध वहाँ की जनता में जबरदस्त आक्रोश पाया जाता है और इसी प्रकार अगर युद्ध, आतंकवाद और धार्मिक हिंसा की मार झेल रहे अफ़ग़ान अवाम भी अनुकूल परिस्थितियां बनने पर अपने मौलिक और जनतांत्रिक अधिकारों के लिए उठ खड़े हों तो हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

2 • समरथ

जुलाई-सितंबर, 2021

ये आदिवासियों के लिए खुद से सवाल पूछने का समय है

जसिंता केरकेट्टा



किसी भी संगठित धर्म में गया आदिवासी अपनी मूल पहचान बनाए रखने के नाम पर प्रकृति से जुड़े उत्सवों में हिस्सा लेकर इस भ्रम में रहता है कि वह ज़मीन से जुड़ा हुआ है लेकिन क्या वह कभी यह महसूस करता है कि अपनी संस्कृति, भाषा आदि को लेकर उसका नज़रिया कैसे कथित मुख्यधारा के नज़रिये जैसा हो जाता है?

‘विश्व आदिवासी दिवस’ आदिवासियों के लिए खुद से सवाल पूछने का समय है। इस मौके पर आदिवासी नाचते-गाते हैं लेकिन आदिवासी समाज के बीच जो महत्वपूर्ण सवाल है, लोग उन सवालों से जूझने का काम नहीं करते। उन्हें अपने समाज के भीतर देखना चाहिए और पूछना चाहिए कि क्या नाच-गान तक सीमित रहने से आदिवासी समाज बचा रह सकता है?

किसी भी संगठित धर्म में चला गया आदिवासी, अपनी आदिवासी पहचान को बचाए रखने के नाम पर प्रकृति से जुड़े आदिवासी उत्सवों में नाचता-गाता रहता है और इस भ्रम में रहता है कि वह आदिवासी पहचान के साथ जुड़ा हुआ है। लेकिन क्या वह कभी महसूस करता है कि आदिवासी संस्कृति, भाषा, जल, जंगल, ज़मीन को लेकर उसका नज़रिया भी कैसे धीरे-धीरे कथित मुख्यधारा के नज़रिये की तरह हो जाता है। किस तरह वह भी ब्राह्मणवाद या श्रेष्ठतावाद को ढोता है? उसी नज़रिये से रास्ता निकालना चाहता है। ब्राह्मणवादी विचारधारा, जीवन शैली और जीवन-मूल्य को ढोते हुए कोई आदिवासी, कैसे यह दावा कर सकता है कि वह आदिवासी है?

कैसे उसका जीवन-मूल्य व्यापक और ज्यादा मानवीय है? हर आदिवासी समुदाय के नाम का अर्थ जब मनुष्य होता है, फिर वह आदिवासी मनुष्य कहां रहता है? उसके पास अपना क्या

नज़रिया है?

क्या उस नज़रिये से विकास के रास्ते तय नहीं हो सकते? अगर हो सकते हैं फिर व्यापक आदिवासी समाज एक साथ गलत को गलत कहने के लिए क्यों नहीं खड़ा हो पाता, क्यों सही को सही कहने के लिए भी एकजुट नहीं हो पाता?

बदले समय में जब आदिवासी पहनावा, भाषा, जीवन शैली खत्म हो रही है फिर भी कोई आदिवासी हर बार सिर्फ अपने बचे-खुचे जीवन-मूल्यों से पहचान लिया जाता है।

आदिवासी प्रकृति से जुड़े अपने जीवन दर्शन से ही जाना जाता है। लेकिन अगर जीवन-मूल्य भी बदल चुका हो तब सिर्फ आदिवासी गोत्र लगा देने, पेड़ के निकट कोई घर बना लेने, आदिवासी गीतों पर नाच-गा लेने भर से कोई आदिवासी कैसे बचा रह सकता है?

हर आदिवासी को अपनी संस्कृति और जीवन-मूल्य को समझना होगा। अपने समाज की कुरीतियों और कमियों से लड़ने, भीतर और बाहर रूढ़िवादी विचारधाराओं को तोड़ने का काम भी खुद ही करना होगा। देखना होगा कि वह कौन-सा बंधन है जो उसे बदलने नहीं देता और कौन-सा रास्ता है जो उसको बदलना चाहता है लेकिन उसकी मूल संस्कृति, जीवन-मूल्य को छीन लेता है, उसे मनुष्य रहने नहीं देता।

यह सारे सवाल आदिवासियों को खुद से ही करने होंगे। आदिवासी प्रकृति से जुड़े लोग हैं। उनके पुरखे भी हजारों साल से प्रकृति से जुड़े थे। प्रकृति के साथ जुड़े रहने की वजह से उनकी एक व्यवस्था है। उसी व्यवस्था से सामूहिकता, सहभागिता, एकजुटता की बात पैदा होती है। एक दूसरे को सुनने, सबकी सहमति जानने, सबकी पसंदगी और नाराजगी को समझने, कोई रास्ता निकालने की एक संस्कृति जन्म लेती है।

आदिवासियों की इसी व्यवस्था से उनकी आस्था भी जुड़ी होती है। यह लोगों को दिल से जोड़े रखती है और एक साथ दिल से जुड़े होने के कारण वे प्रकृति की धुन में साथ नाच और साथ गा पाते हैं।

साथ गाने और नाचने के बीच यह मानसिक स्थिति जरूरी होती है कि किसी को भी अपनी नकारात्मकता, श्रेष्ठतावाद, नफरत, कुंठा छोड़कर साथ आना पड़ता है। इन बातों को छोड़े बिना साथ नाचना मुश्किल है। इसलिए आदिवासी सामूहिक रूप से नृत्य कर पाता है।

यह सब आदिवासी समाज के भीतर प्रकृति के साथ जीते हुए एक प्रक्रिया में पैदा हुई है। वह कब, क्यों और कैसे टूटती चली गई? इसलिए टूटती चली गई क्योंकि बदलते समय में नए तरीके से खुद को समझने की कोशिश नहीं हुई।

लोग यह नहीं समझ सके कि जब प्रकृति से कनेक्शन टूटता है और मुनाफे की एक पूंजीवादी जीवन शैली से कोई समाज जुड़ता है, तो वहां आदिवासी संस्कृति के बचने की संभावना खत्म होती है।

आदिवासी समाज संगठित धर्म के साथ उस संस्कृति का जब भी हिस्सा हो जाता है तब वह आंख बंदकर, बिना सवाल पूछे अंधानुकरण करने लगता है।

और अंधानुकरण में सवाल पूछने की जगह नहीं होती और सवाल पूछते लोग खतरनाक घोषित किए जाते हैं। इसलिए उनको समाज से बहिष्कृत किया जाता है।

कोई संगठित धर्म अपनी जगह बुरा नहीं है, लेकिन जब उसका इस्तेमाल सबके हिस्से के संसाधनों पर कब्जा करने के लिए हथियार के रूप में होता है, राजनीति उसका प्रयोग हथियार के रूप में करती है तब धर्म अपने खतरनाक रूप में होता है।

संगठित धर्म ने आदिवासी समाज के भीतर बड़े बदलाव किए हैं। आदिवासी समाज के भीतर मिशनरियों के प्रवेश ने

क्रांतिकारी बदलाव लाए हैं। इसमें कोई दो मत नहीं है।

संघ सुदूर आदिवासी इलाकों में लंबे समय से शिक्षा, स्वास्थ्य को लेकर मिशनरियों की तरह ही काम करने का प्रयास कर रहा लेकिन उनसे जुड़े लोग खुले तौर पर यह स्वीकार करते हैं कि उनका मकसद आदिवासी समाज को, उनकी पहचान से उखाड़कर खुद में शामिल करना है ताकि संसाधनों का प्रयोग देश के विकास के लिए हो सके।

संगठित धर्म आखिरकार किस संस्कृति और जीवन शैली का वाहक है और आदिवासी समाज किस व्यवस्था और संस्कृति का वाहक है? इसे समझने की जरूरत है। दोनों की संस्कृति को समझे बिना हम चीजों को ठीक तरीके से समझ नहीं सकते हैं। धर्म अपने साथ कौन-सी संस्कृति लेकर आता है और कौन-सी चीजों से आदिवासी समाज को उखाड़ता है, इसे देखने की जरूरत है।

संगठित धर्म और उससे जुड़ी जीवन शैली कहीं न कहीं मुनाफे की संस्कृति से मजबूती से जुड़ी रहती है। उसी संस्कृति के भीतर वह सेवा और लोगों को कुछ सुविधा देने का काम करता है लेकिन वह आदिवासियों को उजाड़ने, उनकी भाषा-बोली छीन लेने, उसको विस्थापित करने के खिलाफ मजबूती से लड़ नहीं पाता। धार्मिक संस्था, श्रेष्ठतावादी व्यवस्था इतनी व्यापक और बंधन मुक्त नहीं होती।

इसलिए धर्म बदलने वाले आदिवासी समाज भी ऐसे राजनीतिक पार्टियों के पक्षधर हो जाते हैं, जो धार्मिक स्वतंत्रता से छेड़छाड़ नहीं करती लेकिन वह विकास के नाम पर आदिवासियों को खत्म करती है और इसके खिलाफ, धर्म के नाम पर बंटा आदिवासी समाज कभी भी एक साथ नहीं आ पाता।

आदिवासियों को, देश का व्यापक हिंदू समाज खुद के पेड़ और स्त्री की पूजा करने की समानता पर सनातन धर्म का हिस्सा बताता है। पर आदिवासी जब पेड़ और स्त्री को बचाने के लिए लड़ता है तब यह व्यापक हिंदू समाज उसके साथ क्यों नहीं खड़ा हो पाता है?

क्यों वह हमेशा आदिवासियों को विकास विरोधी भी समझता है? आदिवासियों के जंगल-जमीन बचाने की लड़ाई में व्यापक हिंदू समाज कभी भी साथ आकर खड़ा नहीं होता है। और इस समाज से जो भी समर्पित लोग आदिवासी समाज के हक के लिए लड़ते हैं, वह उनके भी खिलाफ लड़ता है। क्योंकि उनकी

पूरी संस्कृति पूंजीवादी व्यवस्था, मुनाफे की व्यवस्था से चलती है।

वह धार्मिक रूप से आदिवासियों को एक बताता है और दूसरी ओर उनका अस्तित्व खत्म होने पर चुप भी रहता है। इस फर्क को समझे बिना आदिवासी समाज अपने आप को सही तरीके से रेखांकित नहीं कर सकता है।

आदिवासी समाज दुनिया के लिए एकमात्र उम्मीद है, जहां से पूंजीवादी जीवन शैली और व्यवस्था के खिलाफ लड़ते लोग रास्ता पा सकते हैं। दुनिया को रास्ता आदिवासी समाज की मूल मानवीय व्यवस्था, आदिवासियत से ही मिल सकती है। एक दिन समय यह सब लिखेगा। लेकिन आदिवासी समाज को अपने आप से पूछना चाहिए प्रकृति से जुड़ी उनकी अपनी व्यवस्था पर उनका विश्वास क्यों नहीं है?

कहां से वह कमतर हैं? क्यों आदिवासी खुद को असभ्य, कमतर मनुष्य समझता है? क्यों आदिवासी कहलाने से डरता है और दूसरों की तरह नहीं दिखने पर कुंठित होता है?

यह सब इसलिए क्योंकि हजारों साल से उसे यही सब

बताया गया है। वह सब सुनते-सुनते वह उन्हीं बातों पर यकीन करता है। उसके पास खुद की परिभाषा नहीं है।

अपनी कोई व्याख्या नहीं है। दूसरों ने जो व्याख्या कर दी है, उसी व्याख्या से वह खुद को परिभाषित करता है। विश्व आदिवासी दिवस के दौरान उनको अपने आदिवासी होने को नए नजरिये से देखना होगा।

अपनी परिभाषा खुद ही लिखनी होगी, अपनी व्याख्या खुद करनी होगी, अपने होने पर भरोसा करना होगा। उस भरोसे से ही अपने बारे में दुनिया को बताना होगा और अपने प्रति दुनिया का नजरिया बदलना होगा।

इसी तरह यह समाज अपने आप को ढूँढ सकता है। इसी तरह प्रकृति से जुड़े लोग, प्रकृति की व्यापक समझ के साथ दूसरे समाज को भी मानवीय होना और नए नजरिये से आदिवासी दुनिया को देखना सिखा सकते हैं।

साभार : thewirehindi.com

(जसिंता केरकेट्टा स्वतंत्र पत्रकार हैं)

आज़ादी के लिए आदिवासियों के संघर्ष

आदिवासियों ने हमेशा शोषण का विरोध किया। कहीं वन विभाग के कर्मचारियों व ठेकेदारों के खिलाफ, कहीं महाजनों-जमींदारों की लूट व अत्याचार के खिलाफ, कहीं स्कूल मास्टर्स व पुलिस के खिलाफ तो कहीं सीधे फिरंगियों के खिलाफ। इस तरह इन्होंने छोटी-बड़ी करीब चार सौ लड़ाइयां अब तक लड़ी हैं। इनमें कई तो मुख्यधारा के भारतीय समाज की लड़ाइयों से बड़ी जन-क्रांतियां थीं। इनके संघर्ष की शुरुआत 1767 ई. के भूमिज आदिवासियों के विद्रोह से होती है। जो उन्होंने अपने राजा नीमू ढाल की अंग्रेजों द्वारा गिरफ्तारी के विरोध में किया था। 1774 ई. में बस्तर के हल्बाओं ने 'हल्बा विद्रोह' किया था। 1784 में मशहूर तिलका मांझी ने विद्रोह किया। फिर तो कोलों का विद्रोह, तमाड़ विद्रोह, गुजरात के भीलों का विद्रोह, पूर्वोत्तर के सिंगफाओं का विद्रोह, अबूझमाड़ में परालकोट विद्रोह, खासी विद्रोह, भूमिज विद्रोह, महान संथाल 'हूल', अंडमान में अरबडीन की लड़ाई, सिंटेंगों का विद्रोह, मुरिया विद्रोह, नागा विद्रोह, महान बिरसा मुंडा का 'उलगुलान', गुंडाधुर का महान 'भूमकाल', गोविंद गुरु के नेतृत्व में भील विद्रोह 'धूमाल', वारलियों का विद्रोह, धानकटिया आंदोलन आदि-आदि लड़ाइयां चलती रहीं। इन आंदोलनों की प्रकृति अलग-अलग रही। कोई विद्रोह स्थानीय राजा के नेतृत्व में हुआ तो कोई किसी जमींदार-जागीरदार के नेतृत्व में, कोई किसी स्थानीय जनवादी नेता के नेतृत्व में, तो कोई विशुद्ध आदिवासियों का रहा। आदिवासियों का इतिहास दूसरों का अस्तित्व मिटाकर अपनी सत्ता बनाने और राजपाट बनाये रखने का इतिहास नहीं है। यह अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान के साथ बेहतर अस्तित्व के साथ जीने के लिए संघर्ष का इतिहास है। आदिवासियों ने कभी दूसरे इलाके, संपत्ति हड़पने या अपने को बड़ा योद्धा साबित करने के लिए लड़ाइयां नहीं की। इसलिए आदिवासियों ने कभी आपसी युद्ध नहीं किये। एक आदिवासी समुदाय किसी दूसरे आदिवासी समुदाय से कभी नहीं लड़ा। पूर्वोत्तर के कुछ अपवाद समुदायों को छोड़कर। इन विद्रोहों के माध्यम से आदिवासियों ने बहुत कुछ हासिल भी किया है। देश के आदिवासी आज भी संघर्षरत हैं। वे लगातार अपने क्षेत्रों से विस्थापित किये जा रहे हैं। आदिवासी बहुल प्रदेशों में हर प्रकार से लूट मची है। आदिवासी बड़ी साजिशों का शिकार हो रहे हैं।

लोकतंत्र और आज़ादी के असल मायने आदिवासी समाज से सीखने होंगे

अनुराग मोदी



अंग्रेज भी आदिवासियों के आज़ादी एवं लोकतंत्र के मायने एवं उनके जीवन दर्शन को लेकर हमेशा न सिर्फ डरे रहते थे, बल्कि उसके प्रति उनकी एक जिज्ञासा भी थी, इसलिए वो लगातार आदिवासी जीवन को समझने की कोशिश करते थे।

आज जब देश में लोकतंत्र, आज़ादी एवं राष्ट्रवाद पर इतनी बहस चल रही है, तब 9 अगस्त, विश्व आदिवासी दिवस पर हमें इन बातों के मायने आदिवासी के संदर्भ में समझकर उनके जीवन दर्शन से कुछ सीखने की जरूरत है।

वैसे तो आदिवासी की अपनी बोलचाल की भाषा और आम चर्चा में लोकतंत्र या आज़ादी शब्द का कोई स्थान नहीं है। आप किसी भी आदिवासी से इन शब्दों के बारे में पूछेंगे तो वो शायद चुप रहे, लेकिन इसके असली मायने का एहसास उन्हें स्वाभाविक रूप से है।

वे एक मात्र समुदाय है, जो अपने हिस्से के लोकतंत्र एवं आज़ादी के लिए लगातार सत्ता के साथ संघर्षरत है। लेकिन आदिवासी चाहे किसी भी विचारधारा से जुड़ा हो, बैलेट या बुलेट की, किसी भी रूप में उसका यह संघर्ष सत्ता पाने के लिए नहीं है।

क्योंकि सत्ता पर काबिज होकर फिर उसके जरिये अपनी सोच और विचारधारा से उस भू-भाग में रहने वाले सभी

**आदिवासियों की अपनी
बोलचाल की भाषा
और आम चर्चा में
लोकतंत्र या
आज़ादी शब्द का
कोई स्थान नहीं है।
किसी आदिवासी से
इन शब्दों के बारे में पूछें
तो वह शायद चुप रहे
लेकिन इसके असली
मायने का एहसास
उन्हें स्वाभाविक रूप से है**

लोगों की जिदंगी को अपनी ही एक सोच के अनुसार नियंत्रित और संचालित किया जाए, यह आदिवासी के जीवन-दर्शन का हिस्सा नहीं है।

वो किसी की भी स्वाभाविक गतिविधि पर रोक लगाने की सोच में विश्वास नहीं रखता। उसकी अपनी पंचायत में बहुमत से नहीं बल्कि सर्वमत से फैसले होते हैं, फिर चाहे जितना समय लगे। कई बार तो उनकी जात पंचायत कई दिन तक चलती है, जब तक सब लोग किसी एक मत से सहमत नहीं हो जाते, फैसला नहीं होता।

हम मुख्यधारा की शिक्षा व्यवस्था से निकले लोग ज्यादातर शब्दों को अनुभव और व्यवहार से कम और उनके तकनीकी अर्थों से ज्यादा समझते हैं, जो हमें अपने स्कूली शिक्षा के दौरान रटा दिए जाते हैं। जैसे हम स्कूल से लेकर कॉलेज तक पर्यावरण के बारे में पढ़ते हैं, मगर अपनी पूरी जिदंगी उसके उलट काम करते हैं।

इसी तरह से आज़ादी और लोकतंत्र के मामले में हमारी सोच है। हम रोजमर्रा की जिदंगी में इन दोनों शब्दों को उसके व्यवहारिक रूप में एक हद के आगे नहीं समझते।

इसलिए हमारी व्यवस्था भले ही लोकतंत्र के नाम में चलती है, मगर व्यवहार में हमारी मुख्यधारा की सत्ता व

व्यवस्था पर जिस व्यक्ति एवं विचारधारा का कब्जा होता है, वो अपने आपको सारे देश के लोगों की जिंदगी का भाग्यविधाता मान लेता है। वो यह चाहता है कि हर कोई एक पुतले की तरह उसकी सोच के अनुसार चले।

आदिवासी की अपनी समझ, जीवन-दर्शन, शब्दावली उसके अपने आसपास के परिवेश से आती है इसलिए दुनिया भर में बसे हजारों तरह के आदिवासी समुदायों की मोटी-मोटी समझ एक जैसी होती है। जैसे दुनिया के किसी भी आदिवासी समाज में जमीन की मिल्कियत की धारणा का एहसास नहीं था।

भारत आए अंग्रेजों से लेकर दुनिया भर में नए उपनिवेश एवं बसाहट ढूंढते पश्चिमी देशों के गोरे जब अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड से लेकर अफ्रीका तक जिन आदिवासी इलाकों में गए और वहां जमीन हथियाने की कोशिश की, वहां उन्हें आदिवासियों की इस सोच से टकराना पड़ा।

आजादी शब्द भी आदिवासी के शब्दकोश में नहीं है क्योंकि 'आजादी' एक शब्द के रूप में उसी व्यवस्था और भाषा का हिस्सा होता है, जिसने गुलामी की व्यवस्था को ढांचागत रूप से अपनाया है।

अगर आप में किसी को गुलाम बनाकर रखने की सोच नहीं है, फिर वो चाहे जाति व्यवस्था के रूप में हो, राजशाही के रूप में या किसी अन्य रूप में, तो फिर उस समाज में स्वाभाविक रूप से सब आजाद हैं। लेकिन जिस समाज और व्यवस्था में गुलामी है तभी आजादी की बात होगी।

भिन्न-भिन्न समुदाय के लिए आजादी शब्द के अलग-अलग मायने होते हैं। दलितों के लिए यह जाति व्यवस्था से मुक्ति का मामला है, तो महिलाओं के लिए यह पुरुष सत्ता से मुक्ति का। आदिवासी तो सदियों से आजादी के एहसास को प्रकृति में जानवर, नदी और झरने में देखता आ रहा है, जहां सब अपनी मर्जी के मालिक होते हैं, उनके ऊपर किसी भी तरह की बाहरी लगाम नहीं होती है।

यही कारण है कि आदिवासी समुदाय में आजादी का एहसास तो है, लेकिन उसके अपने खुद के शब्दकोश या बोलचाल की भाषा में आजादी शब्द नहीं है क्योंकि उनकी अपनी व्यवस्था में गुलामी को कोई ढांचागत स्थान नहीं है।

यह शब्द और व्यवस्था दोनों ही उसकी जिंदगी में मुख्यधारा के समाज ने थोपी हैं।

जब अंग्रेजों ने संसाधन की लूट के लिए आदिवासी इलाके में घुसना शुरू किया और इसके साथ ही साहूकारी व्यवस्था को वहां स्थापित किया, तब आदिवासियों ने इसे स्वाभाविक रूप से अपनी जिंदगी में दखल माना और बिना इस बात का आकलन करे कि वो अंग्रेजों की बंदूक और असलहे के सामने तीर-कमान और कुछ भरमार बंदूक से कैसे मुकाबला करेंगे, उसका विरोध किया।

उसके अंदर लोकतंत्र एवं आजादी का एहसास इतना स्वाभाविक है कि उसका सत्ता का विरोध आज भी जारी है क्योंकि 15 अगस्त 1947 को जो आजादी मिली उसके बाद विकास के नाम पर आदिवासी के साथ लूट और बढ़ी। उन्हें अपनी व्यवस्था चुनने के लिए कोई आजादी नहीं दी गई।

जिस कानून व्यवस्था, कोर्ट की उन्हें कल्पना तक नहीं है, वहां उन्हें न्याय दिलाए जाने की बात कही जाने लगी। मुख्यधारा की शिक्षा व्यवस्था में उनकी भाषा, संस्कृति को कोई स्थान नहीं दिया गया। उनकी धारा को पिछड़ा बताकर उन्हें मुख्यधारा में शामिल करने के लिए योजनाएं बनने लगी।

इतने बड़े संसाधन के असली मालिक होने के बावजूद आज वो सरकारी योजना की दया पर जिंदा है; यह योजना भ्रष्ट व्यवस्था के हाथ में है इसलिए या तो वो भूख से मरता है या जिंदगी भर कुपोषित रहता है।

1774 में हल्बा विद्रोह के साथ यह शुरुआत हुई थी, जो पिछले 250 वर्षों से आज तक जारी है। वो एकमात्र समुदाय है, जो लगातार सत्ता के साथ संघर्षरत है।

आदिवासी समाज, जिसने तमाम बड़े हमलों के बावजूद हजारों साल से अपनी स्वतंत्र संस्कृति और सोच को बचाकर मुख्यधारा के समाज से अलग अपना अस्तित्व बनाए रखा हो, उसके लिए आजादी शब्द के क्या मायने हैं, इसे समझना आसान नहीं है। क्या आदिवासी के आजादी और लोकतंत्र के इस एहसास को मुख्यधारा का यह समाज और सत्ता व्यवस्था कभी भी अपना पाएगी?

साभार : thewirehindi.com

(लेखक श्रमिक आदिवासी संगठन/
समाजवादी जन परिषद के कार्यकर्ता हैं।)

वनों की असली पहचान आदिवासियों से है

डॉ. दीपक आचार्य

जब जंगलों में रहने वाले लोग बाहरी दुनिया के लोगों से मिलते हैं तो बाहरी चमक-दमक देखकर आदिवासी युवा बाहरी दुनिया को और जानना, समझना चाहते हैं। उन्हें अपनी संस्कृति, अपने लोगों की तुलना में बाहरी दुनिया ज्यादा मोहक लगती है और यहीं से पलायन की शुरुआत होती है। अपने गाँव के बुजुर्गों और उनके बताए ज्ञान को एक कोने में रखकर युवा घर से दूर होने लगते हैं और यहीं से पारंपरिक ज्ञान के पतन की शुरुआत भी होती है।

विज्ञान की शुरुआत ही परंपरागत ज्ञान से होती है और सही मायनों में परंपरागत ज्ञान, आधुनिक विज्ञान से कोसों आगे है। विज्ञान की समझ आपको सिखाती है कि टमाटर एक फल है जबकि परंपरागत ज्ञान बताता है कि टमाटर के फलों को सलाद के तौर पर इस्तेमाल ना किया जाए। ज्ञान परंपरागत होता है, पुराना होता है जबकि विज्ञान विकास की तरह हर समय नया और अनोखा, फिर भी पिछड़ा हुआ सा। आदिवासियों के बीच रहते हुए कम से कम इतना तो सीख पाया हूँ। आदिवासियों का ज्ञान शब्दों के जरिए एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक तैरता हुआ आगे बढ़ा चला आ रहा है। पर्यावरण और प्रकृति के सजग रक्षक सही मायने में आदिवासी ही हैं। आदिवासियों की समझ और ज्ञान को आधुनिकता की धूप से एक हद तक दूर रखना ही आवश्यक है और आवश्यकता यह भी है कि इनके इस ज्ञान का संकलन समय रहते किया जाए। आधुनिकता जैसे भ्रम ने हमारे समाज में जिस कदर पैर पसारने शुरू किए हैं, ना सिर्फ हिन्दुस्तान बल्कि सारी दुनिया के आदिवासी एक अनकहे और अनजाने से खतरे के चौराहे पर हैं, जहाँ इनके विलुप्त तक हो जाने की गुंजाईश है। आदिवासियों के वनों और प्रकृति से दूर जाने या खो जाने से आदिकाल से सुरक्षित ज्ञान का भंडारण जैसे खत्म ही हो जाएगा। सारी दुनिया के पर्यावरणविद पर्यावरण संरक्षण को लेकर बेहद चिंता करते रहते हैं, शहरों में रैलियाँ निकाली

जाती हैं और ग्लोबल वार्मिंग जैसे मुद्दों पर बहस आदि का आयोजन भी होता रहता है, मगर शायद ही कहीं पर्यावरण के सच्चे रक्षकों यानि आदिवासियों के लिए कोई वाकई फिक्रमंद होगा।

हजारों सालों से आदिवासियों ने वनों के करीब रहते हुए जीवन जीने की सरलता के लिए आसान तरीकों, नव प्रवर्तनों और कलाओं को अपनाया है। आदिवासियों ने मरुस्थल में खेती करने के तरीके खोज निकाले, तो कहीं जल निमग्न क्षेत्रों में भी अपने भोजन के लिए अन्न व्यवस्था कर ली। पर्यावरण को नुकसान पहुँचाए बगैर आदिवासियों ने अपने जीवन को हमेशा से सरल और आसान बनाया है। इनका परंपरागत ज्ञान हजारों साल पुराना है, आज भी पर्यावरण और मौसम परिवर्तनों का अनुमान सिर्फ आसमान पर एक नजर मार कर लगाने वाले आदिवासी शहरी लोगों के लिए कौतुहल का विषय हो सकते हैं लेकिन इनके ज्ञान की संभावनाएं किसी दायरे तक सीमित नहीं हैं।

पेसिफिक आईलैण्ड के आदिवासियों के हुनर का जिक्र किया जाए तो शायद कुछ हद तक हम समझ पाएंगे कि पारंपरिक ज्ञान में कितना दम है और इसे खो देने मात्र से हमें कितना नुकसान होगा। आसमान में उड़ने वाली तितलियों को देखकर पेसिफिक आईलैण्ड के आदिवासी अनुमान लगा सकते हैं कि उस दिन शाम तक मौसम कैसा रहेगा? बरसात होगी या धूप

खिली रहेगी? या फिर तेजी आँधी चलेगी। मौसम के पूर्वानुमान के लिए की गयी ये भविष्यवाणियाँ सौ फीसदी सही साबित होती हैं लेकिन दुर्भाग्य से इस तरह का ज्ञान विलुप्त होने की कगार पर है क्योंकि यहाँ पर पर्यटन विकसित होने के बाद बाहरी लोगों के कदम पड़ने शुरू हो चुके हैं। आदिवासियों के बच्चे बाहरी दुनिया से रूबरू हो रहे हैं और इस तरह युवा अपना घर छोड़कर रोजगार की तलाश के नाम पर आईलैण्ड छोड़कर जा रहे हैं। यद्यपि पिछले एक दशक में इस क्षेत्र से आदिवासियों के पलायन ने तेजी पकड़ रखी है लेकिन कुछ संस्थाओं और आदिवासी बुजुर्गों ने अब तक आस नहीं छोड़ी है।

जब से आदिवासी विस्तार और लोगों तक तथाकथित आधुनिक विकास ने अपनी पहुँच बनानी शुरू करी है, तब से आदिवासी परंपराओं का विघटन भी शुरू हो गया है। सदियों इस बात की गवाह हैं कि जब-जब किसी बाहरी सोच या रहन-सहन ने किसी आदिवासी क्षेत्र या समुदाय के लोगों के बीच प्रवेश किया है, इनकी संस्कृति पर इसका सीधा असर हुआ है। विकास के नाम पर आदिवासियों की जमीनें छीनी गई, बाँध बनाने के नाम पर इन्हें विस्थापित किया गया और दुर्भाग्य की बात है कि ये सारे विकास के प्रयास आदिवासी विकास के नाम पर किए जाते रहे हैं लेकिन वास्तव में ये सब कुछ हम बाहरी दुनिया के लोगों के हित के लिए होता है ना कि आदिवासियों के लिए। जंगल में सदियों से रहने वाले आदिवासी जंगल के पशुओं के लिए खतरा नहीं हो सकते, जानवरों के संरक्षण, जंगल को बचाने के नाम पर जंगल में कूच करने वाली एजेंसियाँ जंगल के लिए ज्यादा बड़ा खतरा हैं। जब जंगलों में रहने वाले लोग बाहरी दुनिया के लोगों से मिलते हैं तो बाहरी चमक-दमक देखकर आदिवासियों के युवा बाहरी दुनिया को और जानना, समझना चाहते हैं। उन्हें अपनी संस्कृति, अपने लोगों की तुलना में बाहरी दुनिया ज्यादा मोहक लगती है और यहीं से पलायन की शुरु होती है। अपने गाँव के बुजुर्गों और उनके बताए ज्ञान को एक कोने में रखकर युवा घर से दूर होने लगते हैं और यहीं से पारंपरिक ज्ञान के पतन की शुरुआत भी होती है। मध्यप्रदेश के पातालकोट घाटी की ही बात करें तो मुद्दे की गंभीरता समझ आने लगती है। लगभग 75 स्के.किमी के दायरे में बसी इस घाटी को बाहरी दुनिया की नजर 60 के

दशक तक नहीं लगी थी।

प्रकृति की गोद में, 3000 फीट गहरी बसी घाटी में, भारिया और गोंड आदिवासी रहते हैं। बाहरी दुनिया से दूर ये आदिवासी हरा और बहेड़ा जैसी वनस्पतियों को लेकर प्राकृतिक नमक बनाया करते थे, पारंपरिक शराब, चाय, पेय पदार्थों से लेकर सारा खान-पान सामान, यहीं पाई जाने वाली वनस्पतियों से तैयार किया जाता था। करीब 70 के दशक से हमारे तथाकथित आधुनिक समाज के लोगों ने जैसे ही घाटी में कदम रखा, स्थानीय आदिवासियों के बीच अंग्रेजी शराब, बाजारू नमक से लेकर सी डी प्लेयर और अब डिश टीवी तक पहुँच गया है। घाटी के नौजवानों का आकर्षण बाहर की दुनिया की तरफ होता चला गया। सरकार भी रोजगारोन्मुखी कार्यक्रमों के चलते इको टूरिज्म जैसे नुस्खों का इस्तेमाल करने लगी, लेकिन यह बात मेरी समझ से परे है कि आखिर पैरा-सायक्लिंग, पैरा-ग्लाइडिंग, एडवेंचर स्पोर्ट्स के नाम पर पातालकोट घाटी के लोगों को रोजगार कितना मिलेगा और कैसे? पेनन आईलैण्ड में भी सरकारी आर्थिक योजनाओं के चलते एडवेंचर टूरिज्म जैसे कार्यक्रम संचालित किए गए ताकि बाहरी लोगों के आने से यहाँ रहने वाले आदिवासियों के लिए आय के नए जरिये बनने शुरू हो पाएं। सरकार की योजना आर्थिक विकास के नाम पर कुछ हद तक सफल जरूर हुयी लेकिन इस छोटी सफलता के पीछे जो नुकसान हुआ, उसका आकलन कर पाना भी मुश्किल हुआ। दर असल इस आईलैंड में कुल 10,000 आदिवासी रहते थे। बाहरी दुनिया के लोगों के आने के बाद यहाँ के युवाओं को प्रलोभन देकर वनों के सौदागरों ने अंधाधुंध कटाई शुरू की। वनों की कटाई के लिए आदिवासी युवाओं को डिजिटल गजेट (मोबाईल फोन, टैबलेट, सीडी प्लेयर, घड़ियाँ आदि) दिए गये, कुछ युवाओं को बाकायदा प्रशिक्षण के नाम पर जंगलों से दूर शहरों तक ले जाया गया। धीरे-धीरे युवा वर्ग अपने संस्कारों और समाज के मूल्यों को भूलता हुआ शहर कूच कर गया। आज इस आईलैण्ड में कुल मिलाकर सिर्फ 500 आदिवासी रहते हैं बाकी सभी घाटी और प्रकृति से दूर किसी शहर में बंधुआ मजदूरों की तरह रोजगार कर रहे हैं। आईलैण्ड में बाहरी लोगों के रिसोर्ट, वाटर स्पोर्ट हब, मनोरंजन केंद्र बन गए हैं लेकिन विकास की ऐसी प्रक्रिया में एक आदिवासी

समुदाय का जो हस्त हुआ, चिंतनीय है।

पातालकोट जैसे प्राकृतिक क्षेत्रों में पेनन आईलैण्ड की तरह ईको टूरिज़्म का होना मेरे हिसाब से बाहरी दुनिया के लिए एक खुला निमंत्रण है जिसके तहत लोग यहाँ तक आएँ और पैसिफिक और पेनन आईलैण्ड जैसी समस्याओं की पुनरावृत्ति हो। यहाँ टूरिज़्म की संभावनाओं को देखते हुए मोटेल और रिसोर्ट्स बनाने की योजनाएँ हैं, आसपास के क्षेत्र और पातालकोट में भी आधुनिकता और डिजिटलीकरण की धूप पहुँचने लगी है। पेड़ों की अंधाधुंध कटाई हुयी है, पलायन तेज हो गया है और देखते ही देखते ये घाटी और यहाँ की सभ्यता भी खत्म हो जाएगी। आदिवासी गाँवों से निकलकर जब शहरों तक जाते हैं, गाँवों की शिक्षा को भूल पहले शहरीकरण में खुद को ढाल लेते हैं और इस तरह चलता रहा तो गाँव के बुजुर्गों का ज्ञान बुजुर्गों तक सीमित रहेगा और एक समय आने पर सदा के लिए खो भी जाएगा। पर्यटन के नाम पर ब्राजील जैसे देश में पिछले सौ सालों में 270 आदिवासी समुदायों में से 90 पूरी तरह से विलुप्त हो चुके हैं यानि करीब हर दस साल में एक जनजाति का पूर्ण विनाश हो गया।

आज इस बात की जरूरत है कि आदिवासी समाज के युवाओं को उनकी संस्कृति, रहन-सहन, पारंपरिक ज्ञान और पर्यावरण संरक्षण संबंधित बुजुर्गों के अनुभवों की महत्ता बतायी जाए। युवाओं के पलायन को रोककर गाँवों में ही रोजगार के अवसर प्रदान कराए जाएँ ताकि गाँवों की सूरत जरूर बदले लेकिन आत्मा और शरीर वहीं रहे। पलायन करके गाँव का नौजवान जब शहर पहुँचता है और शहर की चकाचौंध रौशनी और रफ्तार में पहुँच जाता है तो यकीन कर लेता है कि इस दुनिया को इंसान ने बनाया है, ना कि बुजुर्गों के कहे अनुसार किसी भगवान ने। धीमे-धीमे उसे गाँव और बुजुर्गों की हर बात बेमानी सी लगने लगती है। देहाती भाषा बोलने पर उसका मजाक उड़ाया जाता है, उसका उपहास होता है। विकास की ये कैसी दौड़ जिसमें हम खुद अपने पैरों के तले गड्ढा खोदने पर आतुर हैं? शहरीकरण होने की वजह से दुनियाभर की 6000 बोलियों में से आधे से ज्यादा खत्म हो चुकी हैं क्योंकि अब उसे कोई आम बोलचाल में लाता ही नहीं है, कुल मिलाकर भाषा या बोली की मृत्यु हो जाती है। एक भाषा की मृत्यु या

खो जाने से भाषा से जुड़ा पारंपरिक ज्ञान भी खत्म हो जाता है। लोक भाषाओं और बोलियों के खो जाने का नुकसान सिर्फ आदिवासियों को नहीं होगा बल्कि सारी मानव प्रजाति एक बोली के खो जाने से उस बोली या भाषा से जुड़े पारंपरिक ज्ञान को खो देती है। आज भी दुनियाभर के तमाम संग्राहलयों में क्षेत्रीय भाषाओं और बोलियों से जुड़े अनेक दस्तावेज धूल खा रहे हैं और ना जाने कितनी दुर्लभ जानकारियाँ समेटे ये दस्तावेज अब सिवाय नाम के कुछ नहीं। ब्राजील की ऐसी एक विलुप्तप्रायः जनजाति से प्राप्त जानकारियों से जुड़े कुछ दस्तावेजों पर सालों तक शोध किया गया और पाया गया कि ये आदिवासी समुद्री तुफान आने की जानकारी 48 घंटे पहले ही कर दिया करते थे और ठीक इसी जानकारी को आधार मानकर आधुनिक विज्ञान की मदद से ऐसे संयंत्र बनाए गए जो प्राकृतिक आपदाओं की जानकारी समय से पहले दे देते हैं।

पारंपरिक ज्ञान को आधार मानकर सारे मानव समुदाय और समाज के लिए नयी शोध और नवप्रवर्तन को तैयार करना, पारंपरिक ज्ञान का सम्मान है। पातालकोट जैसे समृद्ध आदिवासी इलाकों में पारंपरिक ज्ञान समाज का मूल हिस्सा है लेकिन ना सिर्फ पातालकोट बल्कि दुनियाभर में आज विकास के नाम पर जो दौड़ लगाई जा रही है, इस बात का पूरा डर है कि अनेक जनजातियों के बीच चला आ रहा पारंपरिक ज्ञान कहीं विकास की चपेट में आकर खो ना जाए। मैं विकास का विरोधी नहीं हूँ, विकास होना जरूरी है लेकिन विकास होने से पहले ये भी तो तय हो कि विकास किसका होना है और किस हद तक होना है। अब तक आदिवासियों का विकास होने के बजाए उनका रूपान्तरण होता आया है। विकास तो हो लेकिन आदिवासियों का रूपान्तरण ना हो, उनकी संस्कृति, संस्कारों, रहन-सहन, खान-पान और ज्ञान को बचाया जाए ताकि आने वाली पीढ़ी भी इनके ज्ञान से नवसर्जन करके मानव हित के लिए नए उत्पाद, नए सुलभ उपाय और पारंपरिक ज्ञान की मदद से पर्यावरण को सजाएँ, मानव जीवन को सजाएँ।

साभार

लेखक—हर्बल मेडिसिन और आदिवासियों के पारंपरिक हर्बल ज्ञान के जानकार हैं और गाँव कनेक्शन के कंसल्टिंग एडिटर हैं।

प्रमुख के नाम पत्र

‘प्रमुख के नाम पत्र’ पर्यावरण पर पिछले 167 वर्षों में लिखा हुआ सबसे संजीदा दस्तावेज है। गोरी सरकार, अमरीका के मूल आदिवासियों की सारी ज़मीन को खरीदना चाहती थी। तब साल 1854 में एक रेड-इंडियन कबीले के सरदार चीफ सिएटिल ने वाशिंगटन सरकार के नाम ये पत्र लिखा था। जोकि उपभोक्तावादी संस्कृति पर एक करारा तमाचा है। पर्यावरण संरक्षण पर लिखा गया यह पत्र आज पहले से भी ज़्यादा प्रासंगिक है।

गोरे राज्य के प्रमुख ने कहलवाया है—
कि वे हमारी ज़मीन खरीदना चाहते हैं।
उनके सरदार ने दोस्ती और भाईचारे का संदेश भी भिजवाया है।
यह उनका बड़प्पन है।

हम जानते हैं कि उन्हें हमारी दोस्ती की ज़रूरत नहीं लेकिन उनके प्रस्ताव पर हम विचार करेंगे, क्योंकि, हम यह भी जानते हैं कि यदि ज़मीन नहीं बेची तो तोपों सहित आ सकते हैं ये गोरे लोग।

किस तरह तुम बेच या खरीद सकते हो आकाश को ?
या पृथ्वी के स्नेह को ?
ये बात हमें समझ नहीं आती।
जब हवा की ताज़गी
और पानी की स्फूर्ति
हमारी मिलिक्यत नहीं,
तो कैसे बेच सकते हो उनको ?

इस ज़मीन का कण-कण हमें पूज्य है।
पेड़ों का एक-एक पत्ता, हरेक रेतीला तट,
शाम के कोहरे से ढका हुआ जंगल,
सपाट मैदान और भौरों का गुंजन,
ये सभी पवित्र हैं, पूज्य हैं।
हम आदिवासियों की यादों और जीवन से बंधे हैं।
ये पेड़ अपनी रगों में
हमारी अतीत की यादें संजोए हुए हैं।
गोरे भूल जाते हैं मरने के बाद अपनी जन्मभूमि
लेकिन हम नहीं भूलते अपनी मिट्टी मरने पर भी।

यहां के सुगंधित फूल हमारे भाई-बहन हैं।
ये हिरण, ये घोड़े, ये विशाल पक्षी
सब हमारे भाई हैं।
पहाड़ों की चोटियां, मैदानों की हरियाली,
घोड़े और सवार के शरीर का पसीना
सब एक ही परिवार का हिस्सा है।
इसलिए, जब वाशिंगटन का बड़ा सरदार,
जान से भी प्यारी हमारी ज़मीन मांगता है,
तो वो बहुत कुछ मांग लेता है।

बड़े सरदार ने कहलवाया है—
वो कुछ ज़मीन हमारे लिए अलग रखेगा,
जहां हम आराम से रह सकें।
सरदार यह भी कहता है—
कि वे हमारे पिता हैं और हम उसकी संतान।
हम तुम्हारे प्रस्ताव पर विचार करेंगे,
लेकिन ये काम हमारे लिए आसान नहीं।
क्योंकि ज़मीन हमारे लिए पवित्र है, पूज्य है।
नदियों और झरनों में बहता निर्मल जल,
केवल जल नहीं, हमारे पूर्वजों का लहू है।
यदि हम तुम्हें ज़मीन बेचते हैं
तो अपनी सन्तान को बताना
कि ये भूमि पूज्य है।
और कहना
कि झील में झलकती हरेक परछाई में छिपी है
आदिवासियों के जीवन की यादें और गाथाएं।
पानी के कल-कल में सुनाई देती हैं
हमारे पूर्वजों की आवाज़,
नदियां हमारी दोस्त हैं, प्यास बुझाती हैं

इनकी लहरों पर खेलती हैं हमारी छोटी नावें
और मिटती है हमारे बच्चों की भूख और प्यास।
इसलिए यदि हम तुम्हें ज़मीन बेचते हैं
तो तुम उसे वही प्यार और स्नेह देना
जो तुम अपने किसी प्रियजन को देते हो।
गोरों को आगे बढ़ता देख
हम आदिवासी हमेशा पीछे हटे हैं।
जैसे सूर्य के उदय होते ही
भाग जाता है पर्वतों से कोहरा।
यहीं बिखरी है हमारे पुरखों की राख,
और ये पेड़, ये पर्वत, और धरती का ये भाग,
पवित्र है, इन्हीं पर टिकी है
हमारे पूर्वजों की समाधियां।

हम जानते हैं कि गोरे हमारे तौर तरीकों को नहीं समझते,
उनके लिए सभी ज़मीन एक जैसी है।
नहीं लगाव किसी भी ज़मीन के टुकड़े के साथ—
वो अजनबी की तरह अंधेरे में आते हैं
और ले जाते हैं वो सब, जो उसे चाहिए।

ज़मीन उसकी दोस्त नहीं, दुश्मन है।
जिसे जीत कर वो आगे बढ़ जाते हैं
और छोड़ जाते हैं पीछे पिता की समाधि—
इसकी भी उन्हें कोई परवाह नहीं।
अपने बच्चों से छीन लेते हैं धरती
इसकी भी उन्हें परवाह नहीं।

मां समान धरती और पिता समान आकाश,
उनके लिए बेजान बाज़ारू चीजे हैं,
जिसे वो भेड़ों या चमकते मोतियों की तरह
खरीदते-लूटते और बेच देते हैं।

एक दिन आएगा जब उसकी विशाल भूख
सारी धरती निगल लेगी
और रह जाएगी सिर्फ रेगिस्तान की बालू...

मैं समझ नहीं पाया,
शायद हमारे जीने का ढंग तुमसे अलग है।
तुम्हारे शहरों के नज़ारों को देख,
आंखों में चुभन होती है!
लेकिन शायद हम आदिवासी जंगली हैं, असभ्य हैं,
जो तुम्हारी बातें नहीं समझ पाए।
तुम्हारे शहरों में कोई गली शांत नहीं,
कोई ऐसी जगह नहीं जहां सुनाई दे
वसंत में कोपलों का खिलना,
या किसी कीट के पंखों की सरसराहट।

लेकिन मैं तो असभ्य हूँ।
और इसलिए शायद नहीं समझता तुम्हारी बातें।
यहां का शोर कानों को चोट पहुंचाता है।
ऐसे जीवन का क्या अर्थ जहां इन्सान नहीं सुन सकता
एक जानवर के अकेलेपन का रुदन?
या रात को किसी पोखर में मेंढकों का वाद-विवाद।

मैं एक आदिवासी हूँ इसलिए तुम्हारी बातें नहीं समझता।
हमें तो सुहाती हैं हवा की वो मीठी धुन
जो तालाब की सतह को छूती हुई निकल जाती है
और बारिश में मिट्टी की भीनी-भीनी खूशबू,
या फिर पेड़ों की महक से भरी हुई बयार।

हमारे लिए हवा बहुत कीमती है।
क्योंकि सभी पशु, पक्षी, तरू, मानव, उसी हवा में
सांस लेते हैं,
सब उसी हवा को बांटते हैं।
लेकिन गोरे लोग इस हवा की परवाह नहीं करते
वैसे ही जैसे मृत्यु शैय्या पर पड़ा आदमी,
सुन्न हो जाता है दुर्गंध के प्रति।

फिर भी अगर हम तुम्हें अपनी ज़मीन बेचते हैं

तो जरूर याद रखना कि ये हवा हमारे लिए बहुत कीमती है,
यह मत भूलना कि हवा जीवों का पोषण करती है,
और सबके साथ अपनी आत्मा बांटती है
इसी हवा में हमारे पुरखों ने ली अपनी पहली
और आखिरी सांस।
यही हवा देगी हमारे बच्चों को जीवनदान।
अगर हम तुम्हें अपनी ज़मीन बेच देते हैं
तो इसे अलग रखना। पवित्र रखना।
जहां तुम गोरे भी कर सको सुगंधित बयार का अनुभव।
ठीक है, तुम्हारे प्रस्ताव पर विचार करेंगे।

लेकिन एक शर्त है मेरी—
इस धरती पर बसने वाले पशुओं को
समझोगे तुम अपना बंधु।
मैं जंगली हूँ और शायद नहीं जानता कोई और
जीने का तरीका।

मैंने मैदानों पर हज़ारों भैंसों के सड़े-गले शरीर देखे हैं,
जिन्हें गोरों ने बेवजह चलती गाड़ी से मार दिया था।
मैं सभ्य नहीं और नहीं समझ पाता—
कि कैसे धुआं उड़ती बेजान लोहे की गाड़ी
उस पशु की जिंदगी से ज़्यादा जरूरी है।
पशुओं के बिना मनुष्य क्या रह सकता है?
अगर पशु न रहे,
तो मनुष्य भी
अकेलेपन की पीड़ा से खत्म हो जाएगा।
और वैसे भी, जो पशुओं के साथ होगा।
वही मनुष्य भी भोगेगा एक दिन।
आखिर, सभी कुछ तो जुड़ा है एक दूसरे के साथ।

अपने बच्चों को जरूर सिखाना
कि जिस ज़मीन पर वो चलते हैं
वो हमारे पुरखों की राख से बनी है।
उस ज़मीन का आदर करना सीखें।
अपने बच्चों को यह भी बताना
कि ये मिट्टी हमारे पुरखों की गाथाओं से समृद्ध है

कि धरती हमारी मां है—
यह हमने अपने बच्चों को बताया
और तुम भी यही बताना।

इंसान ने नहीं बुना जीवन का ताना बाना
वो तो सिर्फ उसमें एक तिनका है।
उसके साथ वही होगा जो वो करेगा ताने-बाने के साथ।

हम तुम्हारे प्रस्ताव पर विचार करेंगे
कि उन आरक्षित स्थानों में चले जाएं,
जिसे तुमने हमारे लोगों के लिए अलग रखा है।
हम अलग रहेंगे और शांति से रहेंगे।
इसका महत्व नहीं कि कहां बिताते हैं अपने शेष दिन।

हमारे बच्चों ने हमारी पराजय को देखा है,
हमारे योद्धाओं ने लज्जा के कड़वे घूंट पिये हैं।
पराजय ने उन्हें उदासीन बना दिया है
आलस्य को शराब में डुबोते हैं और खत्म करते हैं वे
अपना शरीर।

अब कुछ फरक नहीं पड़ता
कि कहां बिताते हैं हम बाकी के दिन
वैसे भी हम गिनती में ज़्यादा नहीं।
चंद घंटे, कुछ और साल और फिर
उन महान कबीलों की कोई संतान शेष न रहेगी।
जो कभी बेधड़क इस धरती पर घूमते थे।
और अब छोटी टुकड़ियों में भटकते हैं
घने जंगलों के बीच—

कौन शोक मनायेगा उनके लिए?
जो उतने ही ताकतवर और आशावादी थे
जितने आज तुम हो।
पर क्यों करूं मैं शोक अपने कबीले के अंत का?
आखिर कबीला है क्या—लोगों का एक समूह—
लोग आते हैं, चले जाते हैं,
जैसे सागर की लहरें।

ये गोरे लोग भी
बच नहीं सकते उस सांझी नियति से जो सबकी एक है।
शायद इसीलिए हमारा रिश्ता बंधुओं का ही है
पर यह तो आने वाला समय ही बताएगा।

एक बात हम जानते हैं—हम सबका भगवान एक है।
गोरे लोग भी शायद एक दिन ये बात जान जाएंगे।
क्या तुम सोचते हो कि वो सिर्फ तुम्हारी मिल्कियत है?
हमारी ज़मीन की तरह? जो तुम ले लोगे हमसे एक
दिन?
नहीं ये मुमकिन नहीं।
क्योंकि वो हम दोनों को एक नज़र से देखता है।
उसके लिए यह धरती अमूल्य है।
और इस वसुंधरा को हानि पहुंचाना
उसके रचयिता का तिरस्कार होगा।
एक दिन गोरे लोगों का भी अंत आएगा,
शायद और जातियों से भी पहले।

अपने वातावरण को यदि दूषित करोगे,
तो देखना, किसी रात
तुम्हारा दम उसी गंदगी में घुट जाएगा।
पर अपने विनाश में भी तुम चमकोगे,
उस भगवान के दिए हुए तेज से,
जो तुम्हें धरती पर लाया,
और किसी विशेष उद्देश्य से
धरती का और आदिवासियों का शासक बनाया।

यह नियति हमारे लिए एक रहस्य बन गई है
क्योंकि जब भैंसों का वध होता है,
जंगली घोड़ों को पालतू बनाया जाता है,
जंगल के हर कोने में घुस जाती है इंसानी भीड़ की गंध,
और पहाड़ों का सुंदर दृश्य ढक जाता है
टेलीफोन के तारों से
तब नियति को हम समझ नहीं पाते।
कहां गयी हरियाली? कहां गए विशाल पक्षी?
कहां गए दौड़ते घोड़े, वो शिकार का खेल?

जीने का तो अब अंत आ गया है,
और शुरू हो गयी है जिंदा भर रहने की कोशिश।
ज़मीन बेचने के प्रस्ताव पर हम विचार करेंगे,
तब शायद—अपनी मर्जी से,
तुम्हारी दी गयी ज़मीन पर काट सकें आखिरी दिन।

जब धरती पर से अंतिम आदिवासी भी मिट जाएगा,
तब ये समुद्र तट और बीहड़ वन,
मेरे लोगों की आत्मा संजो कर रखेंगे।
मेरे लोग इस धरती को उतना ही प्यार करते हैं,
जितना मां की धड़कन को एक नवजात शिशु।

इसलिए अगर हम तुम्हें ज़मीन बेचते हैं
तो वैसे ही प्यार करना उसे, जैसे हमने किया।
वैसे ही संवारना, जैसे हमने संवारा।
अपनी पूरी ताकत, दिलो दिमाग से
संभालकर रखना इसे अपने बच्चों के लिए।
और प्यार करना उतना...
जितना परम्पिता हमसे करता है।

एक बात हम जानते हैं—हम सबका भगवान एक है
और ये भूमि उसे बहुत प्यारी है
गोरे लोग भी बच नहीं सकते
उस नियति से—जो सबकी एक है।
अंततः शायद हम बंधु हैं... यह समय ही बताएगा।

साभार : इतिहासबोध

आदिवासी समाज पर आधारित कविताएं

नदी, पहाड़ और बाज़ार

गाँव में वो दिन था, एतवार।
 मैं नन्ही पीढ़ी का हाथ थाम
 निकल गई बाज़ार।
 सूखे दरख्तों के बीच देख
 एक पतली पगडंडी
 मैंने नन्ही पीढ़ी से कहा,
 देखो, यही थी कभी गाँव की नदी।
 आगे देख ज़मीन पर बड़ी-सी दरार
 मैंने कहा, इसी में समा गए सारे पहाड़।
 अचानक वह सहम के लिपट गई मुझसे
 सामने दूर तक फैला था भयावह क़ब्रिस्तान।
 मैंने कहा, देख रही हो इसे ?
 यहीं थे कभी तुम्हारे पूर्वजों के खलिहान।
 नन्ही पीढ़ी दौड़ी : हम आ गए बाज़ार !
 क्या-क्या लेना है ? पूछने लगा दुकानदार।
 भैया ! थोड़ी बारिश, थोड़ी गीली मिट्टी,
 एक बोटल नदी, वो डिब्बाबंद पहाड़
 उधर दीवार पर टँगी एक प्रकृति भी दे दो,
 और ये बारिश इतनी महँगी क्यों ?
 दुकानदार बोला : यह नमी यहाँ की नहीं !
 दूसरे ग्रह से आई है,
 मंदी है, छटाँक भर मँगाई है।

पैसे निकालने साड़ी की कोर टटोली
 चौंकी ! देखा आँचल की गाँठ में
 रुपयों की जगह
 पूरा वजूद मुड़ा पड़ा था...

मातृभाषा की मौत

माँ के मुँह में ही
 मातृभाषा को कैद कर दिया गया
 और बच्चे
 उसकी रिहाई की माँग करते-करते
 बड़े हो गए।
 मातृभाषा खुद नहीं मरी थी
 उसे मारा गया था
 पर, माँ यह कभी न जान सकी।
 रोटियों के सपने
 दिखाने वाली संभावनाओं के आगे
 अपने बच्चों के लिए उसने
 भींच लिए थे अपने दाँत
 और उन निवालों के सपनों के नीचे
 दब गई थी मातृभाषा।
 माँ को लगता है आज भी
 एक दुर्घटना थी
 मातृभाषा की मौत।

जड़ों की ज़मीन

वे पेड़ों को
 बर्दाश्त नहीं करते
 क्योंकि उनकी जड़ें
 ज़मीन माँगती हैं।

आदिवासी समाज पर आधारित कविताएं

उससे मेरा संबंध क्या था

झारखंड में चौड़ी सड़क के लिए कटे पेड़ों को देखते हुए

वह आम का पेड़
ठीक यहीं था, सड़क किनारे
जहाँ से मुझे हर दिन
बस पकड़नी होती,
बस जब तक पहुँचती नहीं
वह मुझे तंग करता
पहले मेरी ओर एक आम फेंकता
मैं खुश होकर जैसे ही दाँत गड़ाती
'ये तो थोड़े खट्टे हैं' गुस्से में बोलती
वह हँसता :
तुम बस में सोती रहती हो न!
यह नींद भगाने के लिए था,
अच्छा अब मीठे आम गिराता हूँ
सच्ची में!
और तब तक बस आ जाती।

उस दिन बस पकड़ने सड़क पर पहुँची
वह गायब था।

सालों से मेरा ठीक यही इंतज़ार करता
वह आम का पेड़
कहाँ जा सकता है भला ?
दूसरे दिन अखबार में पढ़ी
उसके मारे जाने की खबर।

मैं उस दिन खूब रोई
जैसे मारा गया हो कोई घर का अपना
मैं उस दिन सोई नहीं रात भर
कैसे काट दिया गया वह यही सोचकर।

दूसरे दिन दौड़ी उधर
सोचा उसकी गंध समेट ले आऊँगी
अपने आँगन में रोप दूँगी
उसकी गंध बढ़ेगी
तब मैं उसकी गंध लेकर
घर से निकलूँगी
लौटूँगी जब उसकी गंध को
आँगन में खड़ी पाऊँगी।

मगर मेरे सपने टूट गए
धूल का बवंडर जब हँसने लगा मुझ पर
देखा, मेरे आम के पेड़ की गंध
धूल के बवंडर से लड़ रही थी
बिल्कुल गुत्थमगुत्था।

मैं भागी थाने की ओर
यह रपट लिखवाने कि
मेरे साथी की हत्या हुई है,
थाना ठहाके लगाकर हँसने लगा
डंडा दिखाता हुआ बोला
पहले तू बता
तेरा उसके साथ संबंध क्या था ?

मैं आज तक दर-दर भटक रही हूँ
यही बताने के लिए
कि उसके साथ मेरा संबंध क्या था
मगर वहाँ कोई नहीं अब
गायब हो चुका है सब
अब सिर्फ दूर-दूर तक धूल उड़ाती
चौड़ी सपाट सड़कें भर हैं...।

● जसिंता केरकेट्टा

चारों कविताएं www.hindwi.org से साभार हैं।

आदिवासी समाज पर आधारित कविताएं

आदिवासी लड़कियों के बारे में

ऊपर से काली
भीतर से अपने चमकते दाँतों
की तरह शांत धवल होती हैं वे
वे जब हँसती हैं फेनिल दूध-सी
निश्चल हँसी
तब झर-झराकर झरते हैं...
पहाड़ की कोख में मीठे पानी के सोते
जूड़े में खोंसकर हरी-पीली पत्तियाँ
जब नाचती हैं कतारबद्ध
माँदल की थाप पर
आ जाता जब असमय वसंत
वे जब खेतों में
फसलों को रोपती-काटती हुई
गाती हैं गीत
भूल जाती हैं जिंदगी के दर्द
ऐसा कहा गया है
किसने कहे हैं उनके परिचय में
इतने बड़े-बड़े झूठ ?
किसने ?
निश्चय ही वह हमारी जमात का
खाया-पीया आदमी होगा...
सच्चाई को धुँध में लपेटता
एक निर्लज्ज सौदागर
जरूर वह शब्दों से धोखा करता हुआ
कोई कवि होगा
मस्तिष्क से अपाहिज !

● निर्मला पुतुल

www.hindwi.org से साभार ।

नेशनल हाईवे से छिटकी सड़क

नेशनल हाईवे से एक सँकरी सड़क
छिटक जाती है बाईं ओर
जंगल को दो हिस्सों में बाँटती हुई—
आगे उसी में खो जाती है ।
जब बढ़ता हूँ उस पर
दिखाई देते हैं
घने पेड़ों से अटे पहाड़,
उनसे निकलते नदी-नाले,
यहाँ-वहाँ उगे खजूर के पेड़,
कुछ-कुछ दूरी पर पैदल चलते आदिवासी,
कुछ-कुछ दूरी पर बने घरों में काम करती
उनकी पत्नियाँ,
कुछ-कुछ दूरी पर,
उस सड़क किनारे
सीताफल-ककड़ी बेचते आदिवासी बच्चे ।

● शुभम आमेटा

www.hindwi.org से साभार ।

आदिवासी समाज पर आधारित कविताएं

शहर के
दोस्त के नाम पत्र

हमारे जंगल में लोहे के फूल खिले हैं
बॉक्साइट के गुलदस्ते सजे हैं
अभ्रक और कोयला तो
थोक और खुदरा दोनों भावों से
मंडियों में रोज़ सजाए जाते हैं
यहाँ बड़े-बड़े बाँध भी
फूल की तरह खिलते हैं
इन्हें बेचने के लिए
सैनिकों के स्कूल खुले हैं

शहर के मेरे दोस्त
ये बेमौसम के फूल हैं
इनसे मेरी प्रियतमा नहीं बना सकती
अपने जूड़े के लिए गजरे
मेरी माँ नहीं बना सकती
मेरे लिए सुकटी या दाल
हमारे यहाँ इससे कोई त्योहार नहीं मनाया जाता

यहाँ खुले स्कूल
बारहखड़ी की जगह
बारहों तरीकों के गुरिल्ला युद्ध सिखाते हैं

बाज़ार भी बहुत बड़ा हो गया है
मगर कोई अपना सगा दिखाई नहीं देता
यहाँ से सबका रुख शहर की ओर कर दिया गया है

कल एक पहाड़ को ट्रक पर जाते हुए देखा
उससे पहले नदी गई

अब ख़बर फैल रही है कि
मेरा गाँव भी यहाँ से जाने वाला है

शहर में मेरे लोग तुमसे मिलें
तो उनका ख़याल ज़रूर रखना
यहाँ से जाते हुए उनकी आँखों में
मैंने नमी देखी थी
और हाँ!
उन्हें शहर का रीति-रिवाज़ भी तो नहीं आता

मेरे दोस्त
उनसे यहीं मिलने की शपथ लेते हुए
अब मैं तुमसे विदा लेता हूँ।

(सेरामिक आर्ट के आदिवासी कलाकार और मेरे दोस्त
मादी लिंडा से प्रेरित।)

www.hindisamay.com से साभार।

अघोषित उलगुलान

अल सुबह दांडू का काफिला
रुख करता है शहर की ओर
और साँझ ढले वापस आता है
परिंदों के झुंड-सा

अजनबीयत लिए शुरू होता है दिन
और कटती है रात
अधूरे सनसनीखेज़ क्रिस्सों के साथ
कंक्रीट से दबी पगडंडी की तरह
दबी रह जाती है
जीवन की पदचाप
बिल्कुल मौन!

आदिवासी समाज पर आधारित कविताएं

वे जो शिकार खेला करते थे निश्चिंत
जहर-बुझे तीर से
या खेलते थे
रक्त-रंजित होली
अपने स्वत्व की आँच से
खेलते हैं शहर के
कंक्रीटीय जंगल में
जीवन बचाने का खेल

शिकारी शिकार बने फिर रहे हैं शहर में
अघोषित उलगुलान में
लड़ रहे हैं जंगल

लड़ रहे हैं ये
नक्शे में घटते अपने घनत्व के खिलाफ
जनगणना में घटती संख्या के खिलाफ
गुफाओं की तरह टूटती
अपनी ही जिजीविषा के खिलाफ
इनमें भी वही आक्रोशित हैं
जो या तो अभावग्रस्त हैं
या तनावग्रस्त हैं
बाकी तटस्थ हैं
या लूट में शामिल हैं
मंत्री जी की तरह
जो आदिवासीयत का राग भूल गए
रेमंड का सूट पहनने के बाद

कोई नहीं बोलता इनके हालात पर
कोई नहीं बोलता जंगलों के कटने पर
पहाड़ों के टूटने पर
नदियों के सूखने पर
ट्रेन की पटरी पर पड़ी

तुरिया की लावारिस लाश पर
कोई कुछ नहीं बोलता

बोलते हैं बोलने वाले

केवल सियासत की गलियों में
आरक्षण के नाम पर
बोलते हैं लोग केवल
उनके धर्मांतरण पर
चिंता है उन्हें
उनके 'हिंदू' या 'ईसाई' हो जाने की
यह चिंता नहीं कि
रोज कंक्रीट के ओखल में
पिसते हैं उनके तलवे
और लोहे की ढेंकी में
कूटती है उनकी आत्मा

बोलते हैं लोग केवल बोलने के लिए

लड़ रहे हैं आदिवासी
अघोषित उलगुलान में
कट रहे हैं वृक्ष
माफियाओं की कुल्हाड़ी से और
बढ़ रहे हैं कंक्रीटों के जंगल,

दांडू जाए तो कहाँ जाए
कटते जंगल में
या बढ़ते जंगल में ?

kavitakosh.org से साभार ।

● अनुज लुगुन

ढह गया हिंदी-उर्दू के बीच का पुल

हिंदी और उर्दू के बीच पुल बनाने वाले अब बहुत कम लेखक रह गए हैं। अली जावेद उन लेखकों की मानो अंतिम कड़ी थे। हिंदुस्तान की साझी विरासत और दो जुबान की आपसी दोस्ती को जिंदा रखने वाले लेखक और एक्टिविस्ट थे अली जावेद। वे मेरे अग्रज मित्र और सहकर्मी रामकृष्ण पांडेय के अजीज मित्र थे और इस नाते वे मेरे दफ्तर अक्सर आते थे। रामकृष्ण जी और उनके साथ चाय पीने वालों में मैं भी होता था और फिर गप शप। पीडब्ल्यू की हर जानकारी



मुझे देते थे और हम लोग खबर चलाते थे। उनको जब देखा सफेद कुर्ता पैजामा में देखा। साम्प्रदायिकता और फासिज्म के खिलाफ उनके मन में काफी बेचैनी और आक्रोश था। वह इस लड़ाई को जमीन पर लड़ते रहते थे। लेखक तो बहुत होते हैं पर एक्टिविस्ट लेखक कम होते हैं। अली जावेद में संगठन की क्षमता थी। वे अक्सर कोई जलसा सेमिनार में मुब्तिला करते थे।

वे प्रगतिशील लेखक संघ के कार्यकारी राष्ट्रीय अध्यक्ष एवम उर्दू के प्रसिद्ध लेखक तथा सामाजिक कार्यकर्ता भी थे। उनका इंतकाल जीबी पन्त अस्पताल में 31 अगस्त और 1 सितंबर के बीच रात्रि 12 बजे हुआ। वह 68 वर्ष के थे। उनके परिवार में पत्नी के अलावा दो पुत्र और दो पुत्री हैं।

उनके इंतकाल पर हिंदी उर्दू के लेखकों तथा लेखक संगठनों ने गहरा शोक व्यक्त किया है और फ़िरका परस्ती तथा फासीवाद के खिलाफ लड़ाई में उनके योगदान को याद किया है। उन्होंने कहा कि प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव के रूप में उन्होंने साम्प्रदायिकता और फासीवाद के खिलाफ संघर्ष में बड़ी भूमिका निभाई।

जनवादी लेखक संघ, प्रगतिशील लेखक संघ, जन संस्कृति मंच से जुड़े लेखकों प्रसिद्ध लेखक विश्वनाथ

त्रिपाठी, अस्गर वज़ाहत, विभूति नारायण राय, शाहिद परवेज राना सिद्दीकी, वीरेंद्र यादव, अजय तिवारी, केवल गोस्वामी, संजीव कुमार, राजीव शुक्ला, अनिल चौधरी, उर्मिलेश, कुलदीप कुमार, सूर्यनारायण, हरीश पाठक आदि ने गहरा शोक व्यक्त किया है। प्रसिद्ध लेखक एवं संस्कृति कर्मी अशोक वाजपेयी ने भी उनके निधन को हिंदी उर्दू के लिए गहरा आघात बताया है।

दिल्ली विश्वविद्यालय से उर्दू विभाग से 2019 में सेवानिवृत्त प्राध्यापक अली जावेद को 12 अगस्त

को मैक्स अस्पताल में ब्रेन हैमरेज के कारण भर्ती कराया गया था। बाद में उनकी स्थिति में सुधार होने लगा फिर तबियत खराब होने पर जीबी पन्त अस्पताल में भर्ती कराया गया जहां उन्होंने अंतिम सांस ली।

उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद में 31 दिसम्बर, 1954 में जन्मे जावेद ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से उर्दू में बीए करने के बाद जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय से उर्दू में एमए, एमफिल और पीएचडी की वह दिल्ली विश्वविद्यालय के जाकिर हुसैन कालेज में पढ़ाने लगे।

आज अली जावेद जैसे साथियों की बेहद जरूरत है। पिछले दिनों वे अपने प्रगतिशील साथियों के साथ एक अप्रिय विवाद में फंसे थे। दरअसल दिल्ली विश्वविद्यालय के कुछ कॉलेजों में उर्दू विभाग को बंद किये जाने से वे आहत थे। वे चाहते थे कि इस लड़ाई में उनके प्रगतिशील साथी साथ दें। इस घटना ने उनको बहुत परेशान किया और उन्होंने एक लंबा लेख लिखा जो विवादों में रहा। बहरहाल हिंदी उर्दू के इस पुल के ढहने से अदब और तरक्कीपसंद लोगों की दुनिया में मातम छाया है।

● विमल कुमार
वरिष्ठ पत्रकार और कवि

कमला भसीन की याद में

दक्षिण एशिया की प्रमुख नारीवादी लीडर भारत की कमला भसीन अब हमारे बीच नहीं हैं। वो ब्रेड फॉर द वर्ल्ड की कई सहभागी संस्थाओं की प्रतिनिधि ही नहीं बल्कि इससे कहीं ज्यादा एक सलाहकार और मशवराकार भी थीं। वह एक मित्र, नारीवादी हमसफर और पूरी दुनियाभर में लोगों और विशेषतः औरतों के



लिए एक रोल मॉडल थीं। वह 70 के दशक से ही ब्रेड फॉर द वर्ल्ड और उसकी पूर्ववर्ती संस्थाओं ईईडी और ईजेडई की सहयोगी थीं और उसी समय से ही डेवलपमेंट को-ऑपरेशन के क्षेत्र में नारीवादी दृष्टिकोण से सम्बन्धित हमारी बहस और वाद विवादों को समृद्ध करती रहीं और तरह-तरह के प्रश्न उठाकर उनके विभिन्न पहलुओं को उजागर करती रहीं और हम हमेशा नारी अधिकारों के लिए संघर्षों में मिलजुल कर काम करने के अवसर ढूँढते रहते थे। ब्रेड फॉर द वर्ल्ड ने उनसे बहुत कुछ सीखा है और विश्व नारीवादी नेटवर्किंग का हिस्सा बनने में उनसे हौसला प्राप्त किया है।

जर्मनी के साथ कमला भसीन के सम्बन्धों की शुरुआत 1968 के आसपास उस वक्त हुई जब वो यूनिवर्सिटी ऑफ मन्सटर में सोशोलॉजी ऑफ डेवलपमेंट का अध्ययन कर रही थीं। इसके बाद उन्हें विभिन्न देशों में काम पर जाने वाले जर्मन कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण प्रोग्राम में काम करने का अवसर मिला। नई भाषाएं सीखने की अपनी अद्भुत क्षमता के कारण उन्होंने शीघ्र ही जर्मन सीख ली और कभी नहीं भूलें और जब भी उन्हें मौका मिलता वो जर्मन में बातचीत करती थीं जो उन्हें बेहद पसंद था।

वह जल्द ही भारत लौट गई क्योंकि वह शिद्दत से महसूस करती थीं कि उनकी वहाँ जरूरत है, जहाँ वो एक

प्रेरणादायक दक्षिण एशियाई नारीवादी कार्यकर्ता, लीडर और नेटवर्कर बनकर उभरीं, जिसके लिए वह अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जानी और सराही जाती हैं।

जर्मनी के साथ उनका सम्बन्ध कभी समाप्त नहीं हुआ और सत्तर के दशक से ही ब्रेड फॉर द वर्ल्ड और ईजेडई के सहकर्मियों से उनका

मिलना-जुलना रहा, जो फूड एण्ड एग्रीकल्चर ऑर्गनाइजेशन (एफएओ) के प्रोजेक्ट फ्रीडम फ्रॉम हंगर कैम्पेन में दक्षिण एशिया में उनकी नारीवादी गतिविधियों से प्रभावित थे। एफएओ में ही उन्होंने दक्षिण एशिया में जेंडर संबंधी मुद्दों के बारे में जागरूकता पैदा करने के प्रयासों को तेज करने के लिए एक अनोखा सेल कायम करने में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया और इस तरह साउथ एशियन नेटवर्क ऑफ जेंडर एक्टिविस्ट्स एण्ड ट्रेनर्स (SANGAT) की आधारशिला रखी गई। उनकी प्रेरणा और सृजन शक्ति का ही प्रभाव था कि संगत को ईजेडई का भरपूर सहयोग मिला, जिसका सिलसिला जारी है। संगत का कार्यभार अब जागोरी ने संभाल रखा है। जिसकी स्थापना कमला भसीन ने अन्य कार्यकर्ताओं के साथ मिलकर 1984 में की थी। जागोरी आज भी ईजेडई और ब्रेड फॉर द वर्ल्ड की सहभागी संस्था है। जागोरी और संगत के माध्यम से कमला भसीन ने ओरिएंटेशन और ट्रेनिंग के द्वारा दक्षिण एशिया के हजारों कार्यकर्ताओं के जीवन पर प्रभाव डाला और दक्षिण एशिया और अन्य क्षेत्रों में एक जैसी सोच रखने वाले एक्टिविस्टों का नेटवर्क तैयार किया।

कमला भसीन ने ब्रेड फॉर द वर्ल्ड को नारीवादी कार्यकर्ताओं और 'एनईएन', 'निरंतर', 'अस्मिता', 'अंकुर' और 'एएसआर' आदि नेटवर्कों से जोड़ने का भी काम किया। वह

कैपिसिटी बिल्डिंग में हमारी बहुत सी सहभागी संस्थाओं के साथ भी कार्यरत रहीं। ब्रेड फॉर द वर्ल्ड में जिस किसी को भी एक बार उनके साथ काम करने का अवसर मिला, वह उनकी ऊर्जा और सृजन शक्ति से प्रेरित हुआ। उनमें पेचीदा मुद्दों को आसान और सरल भाषा में प्रस्तुत करने की आश्चर्यजनक योग्यता थी। पितृसत्ता के विरुद्ध संघर्ष में वह पुरुषों को भी हमेशा सक्रिय ढंग से शामिल करती थीं। यह नारा भी उन्हीं का दिया हुआ है—A man of quality is not afraid of equality (गुणवान पुरुष समानता से भयभीत नहीं होते)। वह आम जनता को लामबद्ध कर सकती थीं और झुग्गी-झोंपड़ियों में रहने वालों से लेकर आर्थिक सहयोग और विकास के जर्मन मंत्री तक जीवन के हर वर्ग से सम्बन्ध रखने वाले किसी भी व्यक्ति तक पहुँचने की योग्यता रखती थीं और उसे अपना दोस्त भी बना सकती थीं।

कमला भसीन और दक्षिण एशिया में नारीवादी आंदोलनों के साथ ब्रेड फॉर द वर्ल्ड की साझेदारी का दायरा प्रोजेक्ट कोऑपरेशन से कहीं आगे तक फैला हुआ है। यह एक साझी दृष्टिकोण और उद्देश्य के साथ सामाजिक बदलाव और न्याय की ओर एक सामूहिक यात्रा है, जिसमें परिवर्तनकारी भागीदारी अपने श्रेष्ठ रूप में दिखाई देती है। कमला भसीन का पक्का विश्वास था कि हमें उपनिवेशवादी और श्रेणीबद्ध सम्बन्धों के हर रूप से छुटकारा पाने की जरूरत है। वह ये भी मानती थीं कि संसाधनों के साझाकरण के क्षेत्र में भी बहुत कुछ नया किया जाना सम्भव है। उन्होंने नौकरशाही जैसी पद्धति अपनाने और चीजों को विभिन्न सेक्शनों में बाँटने की दाताओं

(Donar) की प्रवृत्ति पर भी सवालिया निशान लगाया और प्रेम और वैश्विक एकजुटता के सामूहिक संघर्ष में भागीदारी को लेकर एक समग्र दृष्टिकोण पर बल देती रहीं और इस संघर्ष में हम सब को साथ लेकर चली।

ब्रेड फॉर द वर्ल्ड की नजर में उनका जीवन और कार्य सराहनीय है। वह अपने पीछे बच्चों की आठ पुस्तकों समेत 38 किताबें, विभिन्न भाषाओं में लिखे गए गीतों, वीडियो टॉक्स, ट्रेनिंग मॉड्यूल्स और कविताओं और नारों की शकल में बहुत सारी सामग्री और संसाधन छोड़ गई हैं, जो न्याय के संघर्ष को आगे बढ़ाने में उपयोगी होंगे।

हम उन्हें आज़ादी के संघर्ष की एक पुरजोश कार्यकर्ता के रूप में हमेशा याद रखेंगे। वह कहा करती थीं—

पितृसत्ता से आज़ादी
खुलकर सांस लेने की आज़ादी
जोर-जोर से गाने की आज़ादी
झूम-झूम कर नाचने की आज़ादी
अपनी बात कहने की आज़ादी

ब्रेड फॉर द वर्ल्ड जर्मनी की ओर से हम उनके परिवार और दोस्तों के साथ अपनी हार्दिक संवदेना व्यक्त करते हैं।

डॉ. डागमर प्रूविन, प्रेजीडेंट;
पेट्रा बर्नर, डायरेक्टर इंटरनेशनल प्रोग्राम्स;
ओलिवर मार्टिन, हेड ऑफ डिपार्टमेंट एशिया एण्ड पेसिफिक;
टीना क्लेबर, जेंडर एडवाइज़र इंटरनेशनल प्रोग्राम्स;
रोज़विटा कुप्के, एडा कर्लाइस और टी.हक
(साउथ एशिया यूनिट के सभी सहकर्मियों की तरफ से।)

**कुदरत ने मर्द और औरत में फ़र्क कम दिए हैं और समाजताएं ज़्यादा।
मर्द और औरत में फ़र्क केवल प्रजनन के लिए दिए हैं, ये कुदरत ने
नहीं बताया था कि कौन नौकरी करेगा और कौन खाना बनाएगा।**

**पितृसत्ता के खिलाफ़ आवाज़ न उठाने वालों को इससे मिलने वाले फ़ायदे
इतने पसंद आते हैं कि वो इसकी बुराई देखते ही नहीं हैं।**

-कमला भसीन-

एक देश बारह दुनिया

जो हमारी संवेदनाओं को गहरे तक झकझोरती और समृद्ध भी करती है

एक देश बारह दुनिया, दरअसल बारह दुनियाओं की बात कहती है. इसमें भूखमरी, कुपोषण से लेकर कोठे पर काम करने वाली महिलाओं और खेल तमाशा कर जीवन यापन करने वालों आदि के जीवन पाठक को झकझोर कर रख देते हैं.

मेलघाट की कहानियां बताती हैं कि बच्चों की मौतों की बड़ी वजह है भूख। दूसरी ओर भूख से निपटने की सरकारी व्यवस्था कई बार बड़ी बाधा बन रही है। ऐसा इसलिए कि इसे एहसास नहीं है कि भूख क्या होती है? भोजन करने की इच्छा भूख का एहसास तो कराती है, लेकिन मेलघाट में कोई बच्चा भूख से एक दिन में तो मरा नहीं। जैसा कि होता है हाइपोथैल्यस के हार्मोन छोड़ने से भूख बढ़ती गई होगी। अंतड़ियों में मरोड़ बढ़ती गई होगी। कई दिनों तक ज्यादा भूखे रहने के कारण तब कहीं जाकर भूखमरी की नौबत आई होगी और बच्चे का शरीर कंकाल बना होगा।'

वर्ष 2020 में 'संयुक्त राष्ट्र संघ' कि रिपोर्ट है कि विश्वस्तर पर 820 मिलियन से अधिक लोग भूखे हैं। 'ग्लोबल हंगर इंडेक्स' के अनुसार 2020 भारत 107 देशों की सूची में 94वें स्थान पर है। आगे 'संयुक्त राष्ट्र संघ' के अनुसार ही विश्व में भूख तीन साल बाद भी कम नहीं हो रही है और मोटापा लगातार बढ़ रहा है। भूख और मोटापा दो कतई मुखलिफ़ दुनिया का चेहरा हैं।

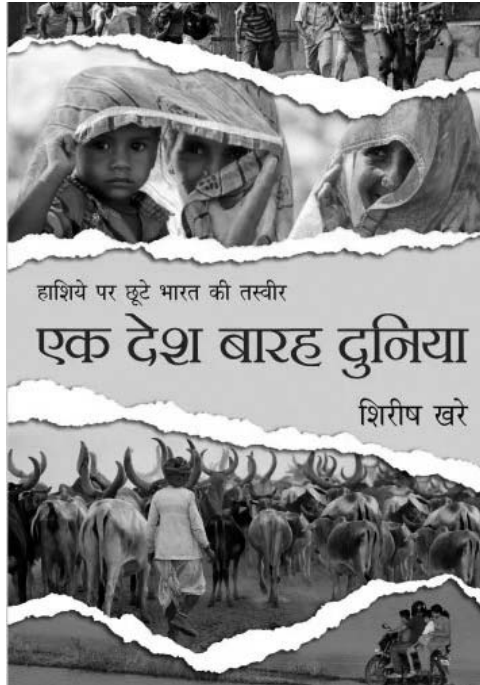
भारत में इन दो चेहरों को लेखक-पत्रकार शिरीष खरे ने अपने रिपोर्टाज में बखूबी उकेरे हैं। शिरीष का यह रिपोर्टाज संग्रह 'राजपाल' प्रकाशन से अगस्त माह में प्रकाशित हुआ है। इन रिपोर्टाज में हमारी दुनिया के उन

कोने-अंतड़ों की मार्मिक तस्वीर है जिन्हें तथाकथित मुख्यधारा से काट दिया गया है, जिनकी आवाज़ न्यूज चैनल्स की टीआरपी न बढ़ा पाने के कारण इच्छाधारी नाग-नागिन, बिग बॉस, आईपीएल, बेसिर-पैर की वेब-सिरीज़ और कुराजनीतिक धक्कम-धक्का में खो गई हैं। इस संग्रह में कुल बारह रिपोर्टाज हैं, जो बारह दुनियाओं की बात कहते हैं।

ये कौन सी दुनिया है

पहला रिपोर्टाज 'वह कल मर गया' महाराष्ट्र के मेलघाट की हृदयविदारक तस्वीर है। जहां अपने मासूम बच्चे की मौत पर मां सपाट लहजे में कहती है—वह कल मर गया तीन महीने भी नहीं जिया। उसकी आवाज़ का सपाटपन दरअसल लगातार मृत्यु और भूख से जूझती उसकी आत्मा का सुन्न हो जाना है। मां पहले भी अपने दो बच्चे भूख की आग में गंवा चुकी है। लेखक आगे लिखता है—मैं हूँ देश की आर्थिक राजधानी मुंबई से उत्तर-पश्चिम की तरफ कोई सात सौ किलोमीटर दूर, पर मैं हूँ कौन सी दुनिया में भाई?

यह वाकई कौन सी दुनिया है। जहां सरकारें या तो मानती हैं कि 1991 से 2008 तक 10,762 बच्चों की मौत हुई है, पर यह नहीं मानती कि ये सारी मौतें भूख से हुई हैं, क्योंकि यह मान लेने के बाद सरकारों की जवाबदेही तय होती है! लेकिन,



लेखक की निगाह सिर्फ समस्याओं पर ही नहीं गई। उसकी खोजी दृष्टि उन कारणों को भी यथासंभव तलाशने का प्रयास करती है जिनके कारण महाराष्ट्र की कोरकू जनजाति की यह दुर्दशा है।

यहां ग्रामीण बताते हैं कि गांव में बिजली नहीं है, लेकिन पानी की कमी इन्हें सबसे ज्यादा सताती है। 1974 में एमटीआर यानी 'मेलघाट टाइगर रिजर्व' वजूद में आया और कोरकू जनजाति तबसे विस्थापन और पुनर्वास नामक दो पाटों के बीच लगातार पिस रही है। सरकार शेरों को बचाना चाहती है, इसलिए मेलघाट में शेरों के चमड़े बराबर जगह चाहिए थी। लेकिन, लेखक बताते हैं कि बाद में शेर का चमड़ा कैसे चौड़ा होते-होते पूरे मेलघाट को ढकने लगा है।

कितनी अजीब बात है कि जब हम प्रकृति की बात करते हैं तो हमारे ख्याल में घास-फूस, गाय-भैंस, शेर-चीता यहां तक कि पहाड़ और नदियां भी आ जाती हैं। बस वहां रहने वाले मनुष्य आदिवासी हमारे जेहन में नहीं आता।

'पिंजरेनुमा कोठरियों में जिन्दगी' नामक रिपोर्टाज में लेखक ने एशिया की सबसे बड़ी देह मंडी महाराष्ट्र के कमाठीपुरा की तस्वीर दिखाई है। इस तस्वीर में दिखता हर चेहरा घुटन से छटपटा रहा है। पर, इन जिंदगियों की कहीं रिहाई नहीं। कहीं तो रिहाई की कोई आस नहीं। वे इसे अपनी नियति मान चुकी हैं।

मैं यह जगह कभी नहीं छोड़ूंगी। मैं मरूंगी भी तो यहीं। बेला ने कमाठीपुरा से बाहर जीने की कल्पना छोड़ दी है। वजह, बाहर वह हर आदमी से डरती है। वहीं, यहां वह हर बाहरी आदमी के साथ होकर भी खुद को सुरक्षित महसूस करती है। कुछ ऐसी स्त्रियां भी हैं जो खुद तो इन पिंजरों से बाहर तो न निकल सकीं, पर अपनी अगली पीढ़ी को पढ़ा रही हैं और चाहती हैं कि वे इन तंग गलियों से बाहर बेहतर जिन्दगी गुजारें।

लेखक ने न केवल कमाठीपुरा की अलग-अलग कई स्त्रियों से बातचीत की है, बल्कि निजी तौर पर भी उन्होंने इस ताने-बाने को समझने के लिए शोध किया है और इसे पढ़ते हुए इन तंग गलियों का सामाजिक-आर्थिक ताना-बाना व इनकी मूलभूत सांख्यिकी कुछ हद तक साफ होती नज़र आती है।

'अपने देश के परदेशी' नामक रिपोर्टाज के केंद्र में महाराष्ट्र

का कनाडी बुडरुक नामक स्थान है। दरअसल स्थान नहीं, यहां रहने वाली तिरमली घुमंतू जनजाति है, इनकी तरह देश में कई घुमंतू-अर्धघुमंतू जनजातियां हैं जो अपने ही देश में निर्वासितों-सा जीवन बिता रहे हैं। पहले मराठवाड़ा में कनाडी बुडरुक नामक गांव में तिरमली जनजाति के लोग भी नंदी बैल का खेल दिखाकर जनता का मनोरंजन करते थे।

इस खेल तमाशे से ही जो थोड़ी-बहुत कमाई होती थी, उससे वे अपना जीवन-यापन करते थे। लेकिन, तब इनकी कोई स्वतंत्र पहचान नहीं थी। पूरी तरह तो आज भी नहीं है। वे देश के नागरिक के रूप में नहीं गिने जाते थे। न पैन कार्ड, न राशन कार्ड न निवास प्रमाण पत्र और इस तरह वे बरसों-वर्ष तमाम नागरिक सुविधाओं से वंचित रहे। लेकिन, उनकी एकता व संगठन ने तस्वीर को पहले से थोड़ा बदला है।

लेखक ने रिपोर्टाज में तिरमली समुदाय की जीवन शैली और कुछ हद तक उनके इतिहास पर अच्छी रोशनी डाली है। इसी प्रकार नट समुदाय पर लिखा रिपोर्टाज 'कोई सितारा नहीं चमकता' सैय्यद मदारी नट समुदाय के संघर्षों व अभावों का मार्मिक चित्रण करता है कि मुंबई के फिल्मी सितारों के चमकने के लिए यह मदारी नट समुदाय नेपथ्य में रहकर अपने करतब दिखाता रहा है।

तालियां सितारों के हिस्से आयीं और इन्हें इनका देय कभी नहीं मिला। लेखक ने इन समुदायों के भीतर उतरकर उनके संघर्ष, उनकी पीड़ा को समझा और लिखा है। इसलिए ये सारे रिपोर्टाज अपने समग्र में वंचितों की चटकार आवाज़ बनकर उभरे हैं। इस संग्रह के ज्यादातर रिपोर्टाज ठेठ देहातों और पिछड़ी बस्तियों के हैं। इनके किरदार पिछड़ी जगहों के संघर्षरत आम मनुष्य हैं। लेखक ने उनकी आवाज़ के साथ अपनी कलम चलाकर अपनी एक तस्वीर सामने रख दी है। यह तस्वीर हमारी संवेदनाओं को गहरे तक झकझोरती और समृद्ध भी करती है।

किताब का नाम : एक देश बारह दुनिया; लेखक का नाम : शिरीष खरे; प्रकाशन : राजपाल प्रकाशन, नई-दिल्ली, विधा : कथेत्तर (रिपोर्टाज)

● उपासना

साभार : hindi.theprint.in

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067,

भारत, टेलीफोन : 091-011-26177904, टेलीफैक्स : 091-011-26177904

ई-मेल : prakashan.isd@gmail.com, notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए